बलात्कार

जिंदर

बलात्कार

सामने की ओर से बस के पहियों द्वारा उड़ाई गई धूल का गुबार काफी घना होकर फैल गया था।

https://www.hindiadda.com/balatkar/

खामोशी थी।

अड्डे पर सन्नाटा पसरा था और उतरने वाला मैं अकेला था।

सड़क से फिसलती हुई मेरी दृष्टि गाँव की तरफ चली गई थी। दूर तक गाँव का कोई नामोनिशान नज़र नहीं आ रहा था। नदी का इलाका था और बरसाती मेंढकों की झलक दिखलाते दरख़्तों के झुंड थे। मैं सड़क के किनारे इस उम्मीद के साथ खड़ा था कि अभी संतोख सिंह ट्रैक्टर लेकर आएगा और अपनी आदत के अनुसार कहेगा, "तू आ गया। मैं जानता था, तू ज़रूर आएगा। तू तो ज़रा भी नहीं बदला, वैसा का वैसा ही है। लोग तो बाहर जाकर बदल जाते हैं।"

धूल का गुबार शांत हो चुका था। असमंजस से बाहर निकलते ही मैं बैग उठाकर कच्चे रास्ते की ओर बढ़ गया।

काफी समय पहले भी मैं यहाँ आया था। आज़ादी के आसपास की बात थी। तब कॉलेज में मेरा प्रथम या दूसरा साल था। पक्के तौर पर याद तो नहीं लेकिन बात उन दिनों की ही थी शायद। राह तब भी ऐसा ही था, आज जैसा। अंतर सिर्फ़ इतना भर लगता था कि बरगद की जटों के समान लटकती हुई जड़ों का रंग अब एकदम स्याह हो गया था और पक्की मेड़ों की जगह मिट्टी के ढेलों ने ले ली थी।

"भाई साहब, कामरेड संतोख सिंह का घर यही है?" अनुमान लगाते हुए साइकिल का हैंडिल पकड़े मेरे आगे आगे जाते हुए आदमी से मैंने पूछा था। लगता तो यही था। मैंने अपनी शंका को दूर करने के लिए पूछा था। पहली ही दृष्टि में एकदम कच्चा-सा घर, घुग्गियों और चिड़ियों वाला घर। बाहर वाला दरवाजा ढहता हुआ। दीवार से थोड़ा-सा दूर थमले गाड़कर बनाई हुई नांद। सभी कुछ तो ज्यों का त्यों था।

"जी नहीं। कभी यह घर उनका था। फिर यह उनके चाचा प्रीतम के हिस्से आ गया।" मेरी ओर गौर से देखते हुए उसने बताया। शायद मेरी सफ़ेद चमड़ी से उसको मेरे बाहर का आदमी होने का अहसास हुआ हो।

"अब उसका घर कौन सा है?"

"आपको सरदार संतोख सिंह से मिलना है न?"

"नहीं, कामरेड संतोख सिंह से।"

"एक ही बात है।"

उसने पीछे घूमकर मेरी तरफ देखा फिर बोला, "जी, घर नहीं, कोठी कहिए। हमारे गाँव में एक ही कोठी है।"

"कोठी?" मुझे लगा जैसे वह एक के बाद एक पहेली डाल रहा हो। मेरा कई वर्षों से उससे नाता टूटा रहा था। काम में इतना व्यस्त रहा कि मैं उसे ख़त तक नहीं लिख सका था और न ही कभी फोन कर पाया था।

"चलो, मेरे साथ गाँव के दूसरी तरफ।" कहकर वह मेरे आगे-आगे चलने लगा। गली अधिक तंग नहीं थी। जगह-जगह गड्ढों में रुका हुआ पानी दुर्गंध मार रहा था।

"यह घर तो संतोख सिंह के ताऊ जी का लगता है।" दीवार के ऊपर फैली पीपल की टहनियों को पहचानते हुए मैंने पूछ लिया था।

"हाँ जी, उन्हीं का ही है। आपने कैसे पहचाना?"

"जब मैं पहली बार आया था तो संतोख सिंह के ताऊ ने इसी पीपल के नीचे बैठकर जलियाँवाला बाग हत्याकांड के बारे में बताया था।"

"अच्छा-अच्छा। वो सामने नज़र आ रही है सरदार संतोख सिंह की कोठी।" मोड़ पर से समझाकर वह पीछे की ओर लौट गया था।

बैग को दूसरे हाथ में लेते हुए मैं वहीं का वहीं स्थिर खड़ा रहा। इतनी शानो-शौकत की तो मैंने कल्पना भी नहीं की थी। दो एकड़ में फैली हुई हवेलीनुमा कोठी। विशाल लोहे का गेट! मोटे सुनहरी अक्षरों में लिखा था - 'सरदार संतोख सिंह सिद्धू'।

"सरदार जी अंदर हैं?" गेट में से निकलते हुए भइया से मैंने पूछा था। 'सरदार जी' अचानक ही मेरे मुँह से निकल गया था।

"जी हाँ।" भइया ने थोड़ी लापरवाही से कहा था।

"अंदर जाकर बोला, अनिल जयरथ आया है, होशियार पुर से।"

"सॉरी, आय एम फीलिंग रियली सॉरी। प्लीज डोंट माइंड, प्लीज़।" गेट से निकलते ही संतोख सिंह ने कहना प्रारंभ कर दिया था।

मेरे सम्मुख एक भारी शरीर वाला आदमी खड़ा था। एकदम उजले-सफ़ेद कुर्ते-पायजामे में। सुर्ख़ चेहरा, नुकीली मूँछें, होंठों पर तैरती हँसी।

"यार! ऐसे टुकुर-टुकुर क्या देख रहा है, मैं सुखा...।"

अगले ही पल उसने मुझे अपनी बाँहों में कस लिया था, जैसे फिल्मों में दारा सिंह मुकरी को कस लेता था। उसने कहना शुरू किया, "यार, मैं तुझे खुद लेने आना वाला था, मगर मैं भी क्या करता। छोटी बेटी छारो का जेठ आ गया। बस झंझटों में ऐसा फँसा कि पूछो मत। इतनी उलझनें थीं कि मुझे कुछ और याद ही नहीं रहा। कहने लगा, मेरे साथ अभी थाने चलो। न मैं मना कर सकता था, न हाँ। बस जाना ही पड़ा। फिर डी.एस.पी. मीटिंग अटैंड करने चला गया। दोपहर से पहले वह आया ही नहीं। मेरा ख़याल था कि तुम शाम को आओगे। नहीं तो मैं किसी नौकर को ट्रैक्टर या स्कूटर पर भेज देता। ख़ैर, मुझे पता है तुम्हारी आदत का। तू माइंड नहीं करेगा।" वह साधारण से थोड़ी ऊँची आवाज़ में बोला, "ओए, ट्रैक्टर लेकर अड्डे पर चला जा अभी। आज कई लोग आने वाले हैं। तुम्हारा काम उन्हें लेकर आना है। अभी निकल जा।"

मुझे महसूस हुआ कि जैसे सरदार संतोख सिंह और सुक्खे के बीच एक युग बीत गया हो। कहाँ है सुक्खा? इकहरे बदन वाला, फटी एड़ियों वाला, खुरदरे बालों वाला ! अक्सर उसका फांटों वाला पायजामा, ढीली-ढाली पगड़ी और पैरों में टूटी हुई-सी चप्पल होती थी और कहाँ अब यह सरदार संतोख सिंह सिद्धू! चार सुक्खों को मिलाकर एक बना सरदार संतोख सिंह सिद्धू !

मुझे याद हो आया जब सुक्खा नया-नया पार्टी वर्कर बना था। एक बार बिलगे में पार्टी का बहुत बड़ा जलसा था। पहले जाकर प्रबंध आदि करने की ड्यूटी मेरी और उसकी लगी थी। स्टेशन से गाँव की तरफ जाते समय वह बातें करते-करते बहुत गंभीर और भावुक-सा हो गया था, "यार, हम कब आज़ाद हुए? गोरे अंग्रेज चले गए, पीछे काले शासन करने लगे।"

"हम जीत कर भी हार गए।"

"नेहरू और पटेल की...।"

हमारी बात बीच में ही रह गई थी। आगे पार्टी के कार्यकर्ता मिल गए थे।

उसने मेरी आँखों में फैलती जा रही प्रश्नों की अटूट लड़ी की कोई डोर पकड़ ली थी। उसने स्वयं ही बताना आरंभ किया था, "तुम मेरी कोठी और साज-सामान देखकर हैरान हो रहे हो। तुम्हारी तरह और लोग भी होते हैं। कभी कभी तो मैं खुद भी हैरान हो जाता हूँ। आख़िर यह सब कुछ हुआ तो कैसे हुआ। दरअसल, पार्टी में पड़ी बड़ी भारी

फूट ने मुझे बहुत बार निराश किया था। कभी-कभी मुझे लगता मानो हम सही रास्ते से भटक गए हों, हमारा रास्ता बदल गया हो। लेकिन तुम्हारे विलायत चले जाने के बाद भी मैंने पार्टी नहीं छोड़ी। मैं अभी भी पार्टी का सदस्य हूँ।" वह एक पल के लिए रुका था। फिर कहने लगा, "सत्तर के आसपास की बात होगी। मैं पार्टी की मीटिंग अटैंड करके घर लौटा था। करीब एक सप्ताह के बाद। मेरे पहुँचते ही पत्नी ने मोर्चा सँभाल लिया, कहने लगी, "घर का क्या होगा?" मैं पहले की भाँति खामोश रहा। मेरे लिए कौन-सी नई बात थी। जब भी आता, जली कटी सुननी ही पड़ती थी। फिर वह नरम लहजे में कहने लगी, "मैं जानती हूँ, आप पार्टी से अलग नहीं हो सकते। मैंने कितना कहा, पर आप ने एक नहीं सुनी। आज कहने से क्या फ़र्क़ पड़ेगा। लेकिन क्या घर के प्रति भी आपका कोई फ़र्ज़ बनता है या नहीं। पाँच खेत घर के हैं। बाद में वे भी उजड़ ही जाएँगे। उन्हें सँभालने वाला भी तो कोई नहीं।" बात उसकी ठीक थी। इसके बाद मैंने पार्टी के साथ-साथ खेतों की तरफ भी पूरा समय देना शुरू कर दिया।

दिनभर मिट्टी के संग मिट्टी होता रहता, पर छोटे खेत से बनता भी क्या? अगर कुछ बनता भी तो वह कर्ज़ों के खाते में चला जाता। परेशानियाँ बढ़ने लगीं। एक दिन मैं लेनिन की जीवनी पढ़ रहा था। जीवनी तो पहले भी कई बार पढ़ी थी, पर उस दिन मन में पता नहीं क्या आया कि उसे दुबारा पढ़ने लगा। पढ़ते हुए एक विचार उभरा - बग़ैर पूँजी के तो कोई भी संघर्ष लड़ा नहीं जा सकता। मोर्चा चाहे कोई भी क्यों न हो। उन्हीं दिनों में छारो के रिश्ते की बात चल रही थी। दूसरे दिन मेरे दोनों साले आ गए। वे सीमा पार आते-जाते रहते थे। विवाह के लिए मेरे पास धन नहीं था। मैंने अपनी मज़बूरी उन्हें बताई तो वे तुरंत बोले, "रुपयों का तो हम ढेर लगा देंगे जीजा जी! हमने तो पहले भी ज़ोर लगाया था कि आप हमारे साथ मिलकर काम करो, मगर आप तो कामरेडी में ही घुसे रहे। अभी भी मान जाओ। पैसे की कोई कमी नहीं रहेगी। ठीक है न फिर?" और मेरे मुँह से 'ठीक है' निकल गया था। कुछ देर बाद वह 'ठीक' मेरे लिए 'गलत' होता चला गया। गलती से इस चक्कर में फँसा मैं यहाँ आ पहुँचा। दोनों लड़कों को पाँच-पाँच लाख खर्च करके अमेरिका भिजवा दिया। शीघ्र ही उन्होंने अपनी माँ को बुला लिया। मैं भी दो बार गया था।

लेकिन महीने भर बाद वापस लौट आया। वहाँ पर मेरा तो मन ही नहीं लगा। बेटे दिन निकलने से पहले ही अपने-अपने कामों पर चले जाते और पीछे हम दोनों पति-पत्नी अकेले रह जाते। न कोई काम, न धंधा। किसी से बात करने को भी तरस जाते। बाकी तुम खुद यूरोप का आईसोलेशन भोग चुके हो। अभी भी उनके ख़त आते रहते हैं - 'पापाजी इधर आ जाओ।' लेकिन मैं कह देता हूँ, "मेरे पास छारो है। मुझे छारो का बेटे

जैसा सहारा है।" अब घर में किसी भी चीज़ की कमी नहीं। एक बात बताऊँ, वह यह कि मेरे अपने सिद्धांत हैं। अपने उसूल हैं। तुम्हारी तरह मैं भी पार्टी से नहीं टूटा। एक बात तुम सच मानना। मैं अपनी कमाई में से पार्टी के लिए दशमांश निकालता हूँ। जब से मैंने हल चलाना शुरू किया, तब से मैं नियमानुसार दिन चढ़ते ही खेती के लिए निकल जाता था। अब उस जैसी आत्म-संतुष्टि नहीं होती। कभी कभी लगता है, जैसे पार्टी मर रही है। पार्टी के साथ हम भी मर रहे हैं। एक बात और भी है, शायद तुम भी महसूस करते होगे। यह भौतिकवाद का युग है। किसी भी परिवर्तन के लिए जन-शक्ति के साथ-साथ धन भी चाहिए। पता नहीं क्यों, पार्टी इस बात को अभी तक समझ क्यों नहीं पा रही।"

मुझे ऐसा महसूस हुआ था मानो सरदार संतोख सिंह नहीं सिर्फ़ सुक्खा बोल रहा हो।

बलबीर के आने तक बात काफ़ी गंभीर हो चुकी थी।

मुंडू ने जो शक्ल-सूरत से नेपाली लगता था, बैगपाइपर की बोतल का ढक्कन खोलकर सभी के लिए पैग डालने शुरू कर दिए थे।

"यह क्या बात हुई यार! इतने वर्ष जर्मनी में रहकर आया है, फिर यह कैसे? सुना है, वहाँ तो कोई शराब के बग़ैर रह ही नहीं सकता। पानी की जगह लोग बियर पीते हैं।" प्यारेलाल ने कहा था।

"आप लोगों को मेरी आदत का पता है।"

"अभी आदत बदली नहीं?"

"यूँ ही समझ लो।"

"फिर क्या लेगा। यार, हम सब पी रहे हैं और तुम हमारे मुँह ताकते रहोगे। साली, यह तो कोई बात न हुई।"

"तुम लोगों का दर्शन बनूँगा।"

"सुनो, साहब के लिए कॉफी बना लाओ। ठहर रे, संग में खाने के लिए भी कुछ लेते आना। एकदम शाकाहारी।"

जैसे जैसे घड़ी की सुइयाँ दौड़ती जा रही थीं, वैसे वैसे खाली बोतलों की संख्या बढ़ती जा रही थी। भुने हुए तीतरों और तंदूरी मुर्गों की हड्डियों का ढेर लगता जा रहा था। मुंडू तो फिरकी की तरह उनके बीच घूम रहा था।

"सुन, मछली तल कर ले आ," सरदार संतोख सिंह ने मस्ती में आते हुए ऊँचे स्वर में कहा था।

मुंडू जाने लगा तो उसने फिर कहा था, "याद आया, मछली तो है ही नहीं। कोई बात नहीं, देसी मुर्गों से ही काम चल जाएगा।"

सभी लोगों ने मुंडू का पैर ज़मीन पर टिकने नहीं दिया था।

बात तो बड़े ज़ोर-शोर से शुरू हुई थी। मैंने हर एक का सुझाव साथ ही साथ नोट किया था। आख़िर में किसी न किसी नतीजे पर भी तो पहुँचना था। संतोख सिंह की हर बात में वजन था। दलील थी। अब किया भी क्या जा सकता था। नोट बुक बंद करके मैंने अपनी जाँघ के नीचे रख ली थी। बारी बारी से मैं उन आठों व्यक्तियों के चेहरे देखने लग पड़ा था।

"हमारे क्षेत्र में तो बहुत पहले ही प्रचार केंद्र की स्थापना हो जानी चाहिए थी। चलो, अब हो जाएगी।" संतोख सिंह ने कहा था।

"क्यों नहीं।" जगीर दास बोला था।

"क्या इसका सेंटर यह गाँव होगा?" हर्ष ने संतोख सिंह की जाँघ पर हाथ मारते हुए पूछा था।

"व्यर्थ की बातें करने का क्या लाभ। बस यह तय रहा, केंद्र इसी गाँव में होगा और चेयरमैन हमारा सरदार संतोख सिंह।" नशे में झूमते हुए गुलजार सिंह विर्क बोला था।

"सरदार संतोख सिंह नहीं, कामरेड संतोख सिंह।"

"आल राइट।" तरसेम ने भी 'हाँ' में 'हाँ' मिलाई थी।

"यह हुई न यारों वाली बात।" प्रकाश ने उठकर संतोख सिंह की गोद में अपना सिर रख दिया था।

"हमें स्वीकार है।" प्रेम जो कुछ समय पहले अड़ गया था, अब वह भी राजी हो गया था।

कमरे में बहुत देर तक नारे गूँजते रहे - दुनियाभर के मेहनतकशों एक हो जाओ...।

कमरे में दस आदमी थी। मैं, मुंडू और वे आठ लोग।

आठों ही बेसुध पड़े थे।

मुंडू के हाथों में कमाल की तेज़ी थी। कभी वह फर्श पर पड़ी हड्डियों को उठाकर ट्रे में रखता और कभी पोछा लगाता। फर्श पर पोछा लगाते हुए उसकी उँगलियाँ टूटी हुई बोतलों के काँच से कई बार जख़्मी हो गई थीं। वह उँगली मुँह में डाल लेता था।

"बाबूजी! आपका बिस्तर साथ वाले कमरे में लगा दिया है। सो जाइए। आपको और कुछ तो नहीं चाहिए?" मेरी तरफ देखते हुए उसने पूछा था।

"नहीं, पेट कुछ ज्यादा ही भर गया है। तुम भी अब जाकर सो जाओ।" उठते हुए मैंने कहा था।

"अभी कहाँ सोना है जी... देखिए, कितना कुछ तो बिखरा पड़ा है।"

"यह सब सुबह कर लेना।"

"नहीं बाबूजी, सरदार जी बोलते हैं कि उन्हें गंदगी से सख़्त नफ़रत है।" कहते हुए उसने संतोख सिंह की ओर देखा था, जिसका आधा धड़ सोफे पर था और आधा नीचे लटक रहा था। उसने संतोख सिंह की चप्पलें उतारीं, पगड़ी उठाकर सेल्फ पर रखी, पूरा ज़ोर लगाकर टाँगें सोफे पर सीधी कीं और सिर के नीचे तकिया लगा दिया था।

"बाबूजी, एक बात बताऊँ। किसी से कहना नहीं।" मुंडू ने चारों ओर नज़रें दौड़ाकर कहा था।

"क्या?"

"वो जो सामने बड़ी-सी तस्वीर है न, वो शो केस के ऊपर वाली। हाँ वही। कभी कभी सरदार जी सुबह-सुबह हाथ जोड़कर उसके सामने खड़े हो जाते हैं। कितनी कितनी देर तक कुछ बोलते रहते हैं। बीच बीच में रोने भी लगते हैं। मुझे पंजाबी ठीक से समझ में नहीं आती। कुछ कुछ समझ लेता हूँ। एक दिन कह रहे थे - मैं भटक गया हूँ... आगे भी

कुछ कुछ कह रहे थे लेकिन मेरी समझ में नहीं आया। पाँच-छह दिन बाद ऐसे ही कहते हुए मैंने फिर सुना था।"

"अच्छा जाओ, अब तुम सो जाओ।"

"नहीं जी, बीबी जी, आज कहीं गए हुए हैं। साथ में सरदार जी भी। अभी तो मुझे रसोई का काम निपटाना है।"

"काम अभी खत्म नहीं हुआ क्या?"

"जी नहीं, अभी तो रसोई में जाकर बर्तन साफ करने हैं।"

"फिर?"

"खाना खाऊँगा।"

"कितने पैसे मिलते हैं?"

"दो सौ बीस।"

"सिर्फ़ दो सौ बीस!" मैं मुँह में ही बड़बड़ाया था। पूछा था, "घर में और कितने नौकर हैं?"

"पाँच हैं जी। परंतु रसोई और आए-गए मेहमान की देखभाल मैं अकेला ही करता हूँ। यह एक दिन की बात तो है नहीं जी। ऐसा तो रोज़ ही चलता है। कभी कोई अफसर आ गया, कभी कोई दोस्त।" कहते हुए मुंडू का गला भर आया था। पता नहीं, कैसे अपने आँसुओं को नियंत्रण में कर वह रसोई की ओर चला गया था।

घड़ी की सुइयाँ बारह के अंक से आगे निकल गई थीं। ड्राइंग रूम में खर्राटों की आवाज़ ने एक शोर सा बना रखा था।

बेडरूम में आकर मैंने घुटनों तक रजाई खींच ली थी। डायरी खोल कर नोट किए नुक्तों और सुझावों की रिपोर्टिंग तैयार करने लगा था। लेकिन यह क्या? हर सुझाव पर मुंडू का चेहरा नज़र आने लगा था। मुझे ऐसे लगा जैसे वह चीख़-चीख़कर कह रहा हो, "मुझे सरदार जी से बचाओ।" फिर जैसे सुक्खे ने मुंडू को परे धकेल दिया हो और बोल रहा हो, "मुझे कामरेड संतोख सिंह से बचाओ।" परंतु पीछे से ही कामरेड संतोख सिंह भी मानो चीख पड़ा हो, "नहीं... नहीं... मुझे सरदार संतोख सिंह सिद्धू से बचाओ।"

मेरे सामने अजीब दुविधा आ खड़ी हुई थी। कभी मुंडू मुझे पर अपना प्रभाव डालने लगता था, कभी सुक्खा और कभी कामरेड संतोख सिंह।

सोने से पहले मैंने डायरी में अपनी प्रतिक्रिया इस प्रकार लिखी थी, "सरदार संतोख सिंह, मुंडू के साथ तो क्या, स्वयं सुक्खा और कामरेड संतोख सिंह दोनों के साथ बलात्कार कर रहा है।"

—— X ——